सन्दर्भ

१. उत्तराध्ययन, २५/२७, २१.
२. धम्मपद, ४०१-४०३.
३. उत्तराध्ययन, १२/४४.
४. अंगुत्तरनिकाय, सुत्तनिपात उधृत भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कौसाम्बी), पृ० २६.
५. भगवान बुद्ध (धर्मानन्द कौसाम्बी), पृ०, २३६-२३९.
६. गीता, ४/३३, २६-२८.
७. उत्तराध्ययन, १२/४६.
८. उत्तराध्ययन, ९/४०, देखिये-गीता (शा०) ४/२६-२७.
९. धम्मपद, १०६.
१०. सम्बोध प्रकरण, गुर्वाधिकार.

जैन धर्म की परम्परा, इतिहास के झरोखे से

यद्यपि जनसंख्या की दृष्टि से आज विश्व में प्रति एक हजार व्यक्तियों में मात्र छह व्यक्ति जैन हैं, फिर भी विश्व के धर्मों के इतिहास में जैन धर्म का अपना एक विशिष्ट स्थान है क्योंकि वैचारिक उदारता, दार्शनिक गंभीरता, विपुल साहित्य और उत्कृष्ट शिल्प की दृष्टि से विश्व के धर्मों में इसका अवदान महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत निबन्ध में हम इस धर्म परम्परा को इतिहास के आइने में देखने का प्रयास करेंगे।

श्रमण परम्परा

विश्व के धर्मों की मुख्यत: सेमेटिक धर्म और आर्य धर्म, ऐसी दो शाखाएँ हैं। सेमेटिक धर्मों में यहूदी, ईसाई और मुसलमान आते हैं जबकि आर्य धर्मों में पारसी, हिन्दू (वैदिक), बौद्ध और जैन धर्म की गणना की जाती है। इनके अतिरिक्त सुदूर पूर्व के देश जापान और चीन में विकसित कुछ धर्म कन्फूशियस एवं शिन्तो के नाम से जाने जाते हैं।

आर्य धर्मों में जहाँ हिन्दू धर्म के वैदिक स्वरूप को प्रवृत्तिमार्गी माना जाता है वहाँ जैनधर्म और बौद्धधर्म को संन्यासमार्गी या निवृत्तिपरक कहा जाता है। जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म श्रमण परम्परा के धर्म हैं। श्रमण परम्परा की विशेषता यह है कि वह सांसारिक एवं ऐहिक जीवन की दु:खमयता को उजागर कर संन्यास एवं वैराग्य के माध्यम से निर्वाण की प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य निर्धारित करती है। इस निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा ने अपनी तप एवं योग की आध्यात्मिक साधना एवं शीलों या व्रतों के रूप में नैतिक मूल्यों की संस्थापना की दृष्टि से भारतीय धर्मों के इतिहास में अपना विशिष्ट अवदान प्रदान किया है। इस श्रमण परम्परा में न केवल जैन और बौद्ध धारायें ही सम्मिलित हैं, अपितु औपनिषदिक और सांख्य-योग की धारायें भी सम्मिलित हैं जो आज बृहद् हिन्दू धर्म का ही एक अंग बन चुकी हैं। इनके अतिरिक्त आजीवक आदि अन्य कुछ धाराएं भी थीं जो आज विलुप्त हो चुकी हैं।

पारस्परिक सौहार्द की प्राचीन स्थिति

प्राकृत साहित्य में ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) और पालि साहित्य में थेरगाथा ऐसे ग्रन्थ हैं जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि अति प्राचीन काल में आचार और विचारगत विभिन्नताओं के होते हुए भी इन ऋषियों में पारस्परिक सौहार्द था।

ऋषिभाषित जो कि प्राकृत जैन आगमों और बौद्ध पालिपिटकों में अपेक्षाकृत रूप से प्राचीन है और जो किसी समय जैन परम्परा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता था, अध्यात्मप्रधान श्रमणधारा के इस पारस्परिक सौहार्द और एकरूपता को सूचित करता है। यह ग्रन्थ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पश्चात् तथा शेष सभी प्राकृत और पालि साहित्य के पूर्व ई०पू० लगभग चतुर्थ शताब्दी में निर्मित हुआ है। इस ग्रन्थ में निर्ग्रन्थ, बौद्ध, औपनिषदिक एवं आजीवक आदि अन्य श्रमण परम्पराओं के ४५ ऋषियों के उपदेश संकलित हैं। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा के ग्रन्थ थेरगाथा में भी श्रमण धारा के विभिन्न ऋषियों के उपदेश एवं आध्यात्मिक अनुभूतियाँ संकलित हैं। ऐतिहासिक एवं अनाग्रही दृष्टि से अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो ऋषिभासित (इसिभासियाइं) के सभी ऋषि जैन परम्परा के हैं और न थेरगाथा के सभी थेर (स्थविर) बौद्ध परम्परा के हैं। जहाँ ऋषिभाषित में सारिपुत्र, वात्सीपुत्र (वज्जीपुत्त) और महाकाश्यप बौद्ध परम्परा के हैं, वहीं उद्दालक, याज्ञवल्क्य, अरुण, असितदेवल, नारद, द्वैपायन, अंगिरस, भारद्वाज आदि औपनिषदिक धारा से सम्बन्धित हैं, तो संजय (संजय वेलट्ठिपुत्त), मंखली गोशालक, रामपुत्त आदि अन्य स्वतन्त्र श्रमण परम्पराओं से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार थेरगाथा में वर्द्धमान आदि जैन धारा की, तो नारद आदि औपनिषदिक धारा के ऋषियों की स्वानुभूति संकलित है। सामान्यतया यह माना जाता है कि श्रमणधारा का जन्म वैदिक धारा की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ किन्तु इसमें मात्र आंशिक सत्यता है। यह सही है कि वैदिक धारा प्रवृत्तिमार्गी थी और श्रमण धारा निवृत्तिमार्गी और इनके बीच वासना और विवेक अथवा भोग और त्याग के जीवन मूल्यों का संघर्ष था। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से तो श्रमण-धारा का उद्भव मानव व्यक्तित्व के परिशोधन एवं नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के प्रतिस्थापन का ही प्रयत्न था जिसमें श्रमण-ब्राह्मण सभी सहभागी बने थे। ऋषिभाषित में इन ऋषियों को अर्हत् कहना और सूत्रकृतांग में इन्हें अपनी परम्परा से सम्मत मानना, प्राचीन काल में इन ऋषियों की परम्परा के बीच पारस्परिक सौहार्द का

ही सूचक है।

निर्ग्रन्थ परम्परा

लगभग ई०पू० सातवीं-छठी शताब्दी का युग एक ऐसा युग था जब जन समाज इन सभी श्रमणों, तपस्वियों, योग-साधकों एवं चिन्तकों के उपदेशों को आदरपूर्वक सुनता था और अपने जीवन को आध्यात्मिक एवं नैतिक साधना से जोड़ता था। फिर भी वह किसी वर्ग-विशेष या व्यक्ति-विशेष से बंधा हुआ नहीं था। दूसरे शब्दों में उस युग में, धर्म परम्पराओं या धार्मिक सम्प्रदायों का उद्भव नहीं हुआ था। क्रमश: इन श्रमणों, साधकों एवं चिन्तकों के आसपास शिष्यों, उपासकों एवं श्रद्धालुओं का एक वर्तुल खड़ा हुआ। शिष्यों एवं प्रशिष्यों की परम्परा चली और उनकी अलग-अलग पहचान बनने लगी। इसी क्रम में निर्ग्रन्थ परम्परा का उद्भव हुआ। जहाँ पार्श्व की परम्परा के श्रमण अपने को पार्श्वापत्य-निर्ग्रन्थ कहने लगे, वहीं वर्द्धमान महावीर के श्रमण अपने को ज्ञात्रपुत्रीय निर्ग्रन्थ कहने लगे। सिद्धार्थ गौतम बुद्ध का भिक्षु संघ शाक्य पुत्रीय श्रमण के नाम से पहचाना जाने लगा।

पार्श्व और महावीर की एकीकृत परम्परा निर्ग्रन्थ के नाम से जानी जाने लगी। जैन धर्म का प्राचीन नाम हमें निर्ग्रन्थ धर्म के रूप में ही मिलता है। जैन शब्द तो महावीर के निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष बाद अस्तित्व में आया है। अशोक (ई०पू० तृतीय शताब्दी), खारबेल (ई०पू० द्वितीय शताब्दी) आदि के शिलालेखों में जैन धर्म का उल्लेख निर्ग्रन्थ संघ के रूप में ही हुआ है।

पार्श्व एवं महावीर की परम्परा

ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग आदि से ज्ञात होता है कि पहले निर्ग्रन्थ धर्म में नमि, बाहुक, कपिल, नारायण (तारायण), अंगिरस, भारद्वाज, नारद आदि ऋषियों को भी जो कि वस्तुत: उसकी परम्परा के नहीं थे, अत्यन्त सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। पार्श्व और महावीर के समान इन्हें भी अर्हत् कहा गया था किन्तु जब निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय पार्श्व और महावीर के प्रति केन्द्रित होने लगा तो इन्हें प्रत्येक-बुद्ध के रूप में सम्मानजनक स्थान तो दिया गया किन्तु अपरोक्ष रूप से अपनी परम्परा से पृथक् मान लिया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि ई०पू० पांचवीं या चौथी शती में निर्ग्रन्थ संघ पार्श्व और महावीर तक सीमित हो गया। यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रारम्भ में महावीर और पार्श्व की परम्पराएँ भी पृथक्-पृथक् ही थीं। यद्यपि उत्तराध्ययन एवं भगवतीसूत्र की सूचनानुसार महावीर के जीवन काल में पार्श्व की परम्परा के कुछ श्रमण उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हो उनके संघ में सम्मिलित हुए थे किन्तु महावीर के जीवन काल में महावीर और पार्श्व की परम्पराएँ पूर्णत: एकीकृत नहीं हो सकीं। उत्तराध्ययन में प्राप्त उल्लेख से ऐसा लगता है कि महावीर के निर्वाण के पश्चात् ही श्रावस्ती में महावीर के प्रधान शिष्य गौतम और पार्श्वापत्य परम्परा के तत्कालीन आचार्य केशी ने परस्पर मिलकर दोनों संघों के एकीकरण की भूमिका तैयार की थी। यद्यपि आज हमारे पास ऐसा कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि पार्श्व की परम्परा पूर्णत: महावीर की परम्परा में विलीन हो गयी थी। फिर भी इतना निश्चित है कि पार्श्वापत्यों का एक बड़ा भाग महावीर की परम्परा में सम्मिलित हो गया था और महावीर की परम्परा ने पार्श्व को अपनी ही परम्परा के पूर्व पुरुष के रूप में मान्य कर लिया था। पार्श्व के लिए 'पुरुषादानीय' शब्द का प्रयोग इसका प्रमाण है। कालान्तर में ऋषभ, नमि और अरिष्टनेमि जैसे प्रागैतिहासिक काल के महान् व्यक्तियों को स्वीकार करके निर्ग्रन्थ परम्परा ने अपने अस्तित्व को अति प्राचीनकाल से जोड़ने का प्रयत्न किया।

ऋषभ आदि तीर्थकरों की ऐतिहासिकता का प्रश्न

वेदों एवं वैदिक परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों से इतना तो निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि वातरशना मुनियों एवं व्रात्यों के रूप में श्रमण धारा उस युग में भी जीवित थी जिसके पूर्व पुरुष ऋषभ थे। फिर भी आज ऐतिहासिक आधार पर यह बता पाना कठिन है कि ऋषभ की दार्शनिक एवं आचार सम्बन्धी विस्तृत मान्यताएं क्या थीं और वे वर्तमान जैन परम्परा के कितनी निकट थीं, तो भी इतना निश्चित है कि ऋषभ संन्यास मार्ग के प्रवर्तक के रूप में ध्यान और तप पर अधिक बल देते थे। ऋषभ, नमि, अजित, अर, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर को छोड़कर अन्य तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में ऐतिहासिक साक्ष्य पूर्णत: मौन हैं और उनके प्रति हमारी आस्था का आधार परवर्ती काल के आगम और अन्य कथा ग्रन्थ ही हैं।

महावीर और अजीवक परम्परा

जैन धर्म के इस पूर्व-इतिहास की इस संक्षिप्त रूप रेखा देने के पश्चात् जब हम पुन: महावीर के काल की ओर आते हैं तो कल्प-सूत्र एवं भगवती में कुछ ऐसे सूचना सूत्र मिलते हैं, जिनके आधार पर ज्ञातपुत्र श्रमण महावीर के पार्श्वापत्यों के अतिरिक्त आजीवकों के साथ भी निकट सम्बन्धों की पुष्टि होती है।

जैनागमों और आगमिक व्याख्याओं में यह माना गया है कि महावीर दीक्षित होने के दूसरे वर्ष में ही मंखली पुत्र गोशालक उनके निकट सम्पर्क में आया था, कुछ वर्ष दोनों साथ भी रहे किन्तु नियतिवाद और पुरुषार्थवाद सम्बन्धी मतभेदों के कारण दोनों अलग-अलग हो गये। हरमन जेकोबी ने तो यह कल्पना भी की है कि महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा में नग्नता आदि जो आचार्य मार्ग की कठोरता है, वह गोशालक की आजीवक परम्परा का प्रभाव है। यह सत्य है कि गोशालक के पूर्व भी आजीवकों की एक परम्परा थी जिसमें अर्जुन आदि आचार्य थे। फिर भी ऐतिहासिक साक्ष्य के अभाव में यह कहना कठिन है कि कठोर साधना की यह परम्परा महावीर से आजीवक परम्परा में गई या आजीवक गोशालक के द्वारा महावीर की परम्परा में आई। क्योंकि इस तथ्य का कोई प्रमाण नहीं है कि महावीर से अलग होने के पश्चात् गोशालक आजीवक परम्परा से जुड़ा था या वह प्रारम्भ में ही आजीवक परम्परा

में दीक्षित होकर महावीर के पास आया था। फिर भी इतना निश्चित है कि ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी के बाद तक भी इस आजीवक परम्परा का अस्तित्व रहा है। यह निर्ग्रन्थों एवं बौद्धों की एक प्रतिस्पर्धी श्रमण परम्परा थी जिसके श्रमण भी जैनों की दिगम्बर शाखा के समान नग्न रहते थे। जैन और आजीवक दोनों परम्पराएं प्रतिस्पर्धी होकर भी एक दूसरे को अन्य परम्पराओं की अपेक्षा अधिक सम्मान देती थीं, इस तथ्य की पुष्टि हमें बौद्ध पिटक साहित्य में उपलब्ध व्यक्तियों के षट्विध वर्गीकरण से होती है। निर्ग्रन्थों को अन्य परम्परा के श्रमणों से ऊपर और आजीवक परम्परा से नीचे स्थान दिया गया है। इस प्रकार आजीवकों के निर्ग्रन्थ संघ से जुड़ने एवं अलग होने की यह घटना निर्ग्रन्थ परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। साथ ही निर्ग्रन्थों के प्रति अपेक्षाकृत उदार भाव दोनों संघों की आंशिक निकटता का भी सूचक है।

निर्ग्रन्थ परम्परा में महावीर के जीवनकाल में हुए संघ भेद

महावीर के जीवनकाल में निर्ग्रन्थ संघ की अन्य महत्त्वपूर्ण घटना महावीर के जामातृ कहे जाने वाले जामालि से उनका वैचारिक मतभेद होना और जामालि का अपने पाँच सौ शिष्यों सहित उनके संघ से अलग होना है। भगवती, आवश्यक निर्युक्ति और परवर्ती ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण उपलब्ध है। निर्ग्रन्थ संघ-भेद की इस घटना के अतिरिक्त हमें बौद्ध पिटक साहित्य में एक अन्य घटना का उल्लेख भी मिलता है जिसके अनुसार महावीर के निर्वाण होते ही उनके भिक्षुओं एवं श्वेत वस्त्रधारी श्रावकों में तीव्र विवाद उत्पन्न हो गया। निर्ग्रन्थ संघ के इस विवाद की सूचना बुद्ध तक भी पहुँचती है। किन्तु पिटक साहित्य में इस विवाद के कारण क्या थे, इसकी कोई चर्चा नहीं है। एक सम्भावना यह हो सकती है कि यह विवाद महावीर के उत्तराधिकारी के प्रश्न को लेकर हुआ होगा। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी को लेकर मतभेद है। दिगम्बर परम्परा महावीर के पश्चात् गौतम को पट्टधर मानती है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा सुधर्मा को। श्वेताम्बर परम्परा में महावीर के निर्वाण के समय गौतम को निकट के दूसरे ग्राम में किसी देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने हेतु भेजने की जो घटना वर्णित है, वह भी इस प्रसंग में विचारणीय हो सकती है। किन्तु दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि बौद्धों ने जैनों के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्बन्धी परवर्ती विवाद को पिटकों के सम्पादन के समय महावीर के निर्वाण की घटना के साथ जोड़ दिया हो। मेरी दृष्टि में यदि ऐसा कोई विवाद घटित हुआ होगा तो वह महावीर के नग्न रखने वाले श्रमणों के बीच हुआ होगा; क्योंकि पार्श्वापत्यों के महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में प्रवेश के साथ ही उनके संघ में नग्न और सवस्त्र ऐसे दो वर्ग अवश्य ही बन गये होंगे और महावीर श्रमणों के इन दो वर्गों को सामायिक-चारित्र और छेदोपस्थापनीय-चारित्र धारी के रूप में विभाजित किया होगा। विवाद का कारण ये दोनों वर्ग ही रहे होंगे। मेरी दृष्टि में बौद्ध परम्परा में जिन्हें श्वेत वस्त्रधारी श्रावक कहा गया, वे वस्तुत: सवस्त्र श्रमण ही होंगे। क्योंकि बौद्ध परम्परा में श्रमण (भिक्षु) को भी श्रावक कहा गया है, फिर भी इस संबंध में गम्भीर चिन्तन की आवश्कता है।

निर्ग्रन्थ संघ की धर्म प्रसार यात्रा

भगवान महावीर के काल में उनके निर्ग्रन्थ संघ का प्रभाव-क्षेत्र बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा उनके आसपास का प्रदेश ही था। किन्तु महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन सीमाओं में विस्तार होता गया। फिर भी आगमों और निर्युक्तियों की रचना तथा तीर्थंकरों की अवधारणा के विकास काल तक उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब एवं पश्चिमी राजस्थान के कुछ भाग तक ही निर्ग्रन्थों के विहार की अनुमति थी। तीर्थंकरों के कल्याण क्षेत्र भी यहीं तक सीमित थे। मात्र अरिष्टनेमि ही ऐसे तीर्थंकर हैं जिनका संबंध शूरसेन (मथुरा के आसपास के प्रदेश) के अतिरिक्त सौराष्ट्र से भी दिखाया गया है और उनका निर्वाण स्थल गिरनार पर्वत माना गया है। किन्तु आगमों में द्वारिका और गिरनार की जो निकटता वर्णित है वह यथार्थ स्थिति से भिन्न है। सम्भवत: अरिष्टनेमि और कृष्ण के निकट-सम्बन्ध होने के कारण ही कृष्ण के साथ-साथ अरिष्टनेमि का सम्बन्ध भी द्वारिका से जोड़ा गया होगा। अभी तक इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक साक्ष्यों का अभाव है। विद्वानों से अपेक्षा है कि इस दिशा में खोज करें।

जो कुछ ऐतिहासिक साक्ष्य मिले हैं उससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ संघ अपने जन्म स्थल बिहार से दो दिशाओं में अपने प्रचार अभियान के लिए आगे बढ़ा। एक वर्ग दक्षिण-बिहार एवं बंगाल से उड़ीसा के रास्ते तमिलनाडु गया और वहीं से उसने श्रीलंका और स्वर्णदेश (जावा-सुमात्रा आदि) की यात्राएँ कीं। लगभग ई०पू० दूसरी शती में बौद्धों के बढ़ते प्रभाव के कारण निर्ग्रन्थों को श्रीलंका से निकाल दिया गया। फलत: वे पुन: तमिलनाडु में आ गये। तमिलनाडु में लगभग ई०पू० प्रथम-द्वितीय शती से ब्राह्मी लिपि में अनेक जैन अभिलेख मिलते हैं जो इस तथ्य के साक्षी हैं कि निर्ग्रन्थ संघ महावीर के निर्वाण के लगभग दो, तीन सौ वर्ष पश्चात् ही तमिल प्रदेश में पहुँच चुका था। मान्यता तो यह भी है कि आचार्य भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त मौर्य को दीक्षित करने दक्षिण गये थे। यद्यपि इसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं हो सकती है क्योंकि जो अभिलेख घटना का उल्लेख करता है वह लगभग छठी-सातवीं शती का है। आज भी तमिल जैनों की विपुल संख्या है और वे भारत में जैन धर्म के अनुयायियों की प्राचीनतम परम्परा के प्रतिनिधि हैं। यद्यपि बिहार, बंगाल और उड़ीसा की प्राचीन जैन परम्परा कालक्रम में विलुप्त हो गयी है किन्तु सराक जाति के रूप में उस परम्परा के अवशेष आज भी शेष हैं। 'सराक' शब्द श्रावक का ही अपभ्रंश रूप है और आज भी इस जाति में रात्रि भोजन निषेध जैसे कुछ संस्कार शेष हैं।

उत्तर और दक्षिण के निर्ग्रन्थ श्रमणों में आधार भेद

दक्षिण में गया निर्ग्रन्थ संघ अपने साथ विपुल प्राकृत जैन साहित्य तो नहीं ले जा सका क्योंकि उस काल तक जैनागम साहित्य

की पूर्ण रचना ही नहीं हो पाई थी। वह अपने साथ श्रुत परम्परा से कुछ दार्शनकि विचारों एवं महावीर के कठोर आचार मार्ग को ही लेकर चला था जिसे उसने बहुत काल तक सुरक्षित रखा। आज की दिगम्बर परम्परा का पूर्वज यही दक्षिणी अचेल निर्ग्रन्थ संघ है। इस सम्बन्ध अन्य कुछ मुद्दे भी ऐतिहासिक दृष्टि से विचारणीय हैं। महावीर के अपने युग में भी उनका प्रभाव क्षेत्र मुख्यतया दक्षिण बिहार ही था जिसका केन्द्र राजगृह था, जबकि बौद्धों एवं पार्श्वापत्यों का प्रभाव क्षेत्र उत्तरी बिहार एवं पूर्वोत्तर उत्तर प्रदेश था जिसका केन्द्र श्रावस्ती था। महावीर के अचेल निर्ग्रन्थ संघ और पार्श्वापत्य सन्तरोत्तर (सचेल) निर्ग्रन्थ संघ के सम्मिलन की भूमिका भी श्रावस्ती में गौतम और केशी के नेतृत्व में तैयार हुई थी। महावीर के सर्वाधिक चातुर्मास राजगृह नालन्दा में होना और बुद्ध के श्रावस्ती में होना भी इसी तथ्य का प्रमाण है। दक्षिण का जलवायु उत्तर की अपेक्षा गर्म था,अत: अचेलता के परिपालन में दक्षिण में गये निर्ग्रन्थ संघ को कोई कठिनाई नहीं हुई जबकि उत्तर के निर्ग्रन्थ संघ में कुछ पार्श्वापत्यों के प्रभाव से और कुछ अति शीतल जलवायु के कारण यह अचेलता अक्षुण्ण नहीं रह सकी और एक वस्त्र रखा जाने लगा। स्वभावत: भी दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के निवासी अधिक सुविधावादी होते हैं। बौद्ध धर्म में भी बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् सुविधाओं की मांग वात्सीपुत्रीय भिक्षुओं ने ही की थी जो उत्तरी तराई क्षेत्र के थे। बौद्ध पिटक साहित्य में निर्ग्रन्थों को एक शाटक और आजीवकों को नग्न कहा गया है यह भी यही सूचित करता है कि लज्जा और शीत निवारण हेतु उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ कम से कम एक वस्त्र तो रखने लग गया था। मथुरा में ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी के आसपास की जैन श्रमणों की जो मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं उनमें सभी में श्रमणों को एक वस्त्र से युक्त दिखाया गया है। वेसामान्यतया नग्न रहते थे किन्तु भिक्षा या जन समाज में जाते समय वह वस्त्र खण्ड हाथ पर डालकर अपनी नग्नता छिपा लेते थे और अति शीत आदि की स्थिति में उसे ओढ़ लेते थे।

यह सुनिश्चित है कि महावीर बिना किसी पात्र के दीक्षित हुए थे। आचारांग से उपलब्ध सूचना के अनुसार पहले तो वे गृही पात्र का उपयोग कर लते थे किन्तु बाद में उन्होंने इसका त्याग कर दिया और पाणिपात्र हो गये अर्थात् हाथ में ही भिक्षा ग्रहण करने लगे। सचित्त जल का प्रयोग निषिद्ध होने से सम्भवत: सर्वप्रथम निर्ग्रन्थ संघ में शौच के लिए जलपात्र का ग्रहण किया गया होगा किन्तु भिक्षुकों की बढ़ती हुई संख्या और एक ही घर से प्रत्येक भिक्षु को पेट भर भोजन न मिल पाने के कारण आगे चलकर भिक्षा हेतु भी पात्र का उपयोग प्रारम्भ हो गया होगा। इसके अतिरिक्त बीमार और अतिवृद्ध भिक्षुओं की परिचर्या के लिए भी पात्र में आहार लाने और ग्रहण करने की परम्परा प्रचलित हो गई होगी। मथुरा में ईसा की प्रथम-द्वितीय शती की एक जैन श्रमण की प्रतिमा मिली है जो अपने हाथ में एक पात्र युक्त झोली और दूसरे में प्रतिलेखन (रजोहरण) लिए हुए है। इस झोली का स्वरूप आज श्वे० परम्परा में, विशेष रूप से स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा में प्रचलित झोली के समान है। यद्यपि मथुरा के अंकनों में हाथ में खुला पात्र भी प्रदर्शित है। इसके अतिरिक्त मथुरा के अंकन में मुनियों एवं साध्वियों के हाथ में मुख वस्त्रिका (मुंह-पत्ति) और प्रतिलेखन (रजोहरण) के अंकन उपलब्ध होते हैं। प्रतिलेखन के अंकन दिगम्बर परम्परा में प्रचलित मयूर पिच्छि और श्वे० परम्परा में प्रचलित रजोहरण दोनों ही आकारों में मिलते हैं। यद्यपि स्पष्ट साहित्यिक और पुरातात्त्विक साक्ष्य के अभाव में यह कहना कठिन है कि वे प्रतिलेखन मयूर-पिच्छ के बने होते थे या अन्य किसी वस्तु के। दिगम्बर परम्परा में मान्य यापनीय ग्रन्थ मूलाचार और भगवती आराधना में प्रतिलेखन (पडिलेहण) और उसके गुणों का तो वर्णन है किन्तु यह स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि वे किस वस्तु के बने होते थे। इस प्रकार ईसा की प्रथम शती के पूर्व उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र, पात्र, झोली, मुखवस्त्रिका और प्रतिलेखन (रजोहरण) का प्रचलन था। सामान्यतया मुनि नग्न ही रहते थे और साध्वियाँ साड़ी पहनती थीं। मुनि वस्त्र का उपयोग उचित अवसर पर शीत एवं लज्जा-निवारण हेतु करते थे। मुनियों के द्वारा सदैव वस्त्र धारण किये रहने की परम्परा नहीं थी। इसी प्रकार अंकनों में मुखवस्त्रिका भी हाथ में ही प्रदर्शित है, न कि वर्तमान स्थानकवासी और तेरापंथी परम्पराओं के अनुरूप मुख पर बंधी हुई दिखाई गई है। प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ भी इन्हीं तथ्यों की पुष्टि करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में मुनि के जिन १४ उपकरणों का उल्लेख मिला है, वे सम्भवत: ईसा की दूसरी-तीसरी शती तक निश्चित हो गये थे।

महावीर के पश्चात् निर्ग्रन्थ संघ में हुए संघभेद

महावीर के निर्वाण और मथुरा के अंकन के बीच लगभग पाँच सौ वर्षों के इतिहास से हमें जो महत्त्वपूर्ण सूचनाएं मिलती हैं वे निह्नवों के दार्शनिक एवं वैचारिक मतभेदों एवं संघ के विभिन्न, गणों, शाखाओं, कुलों एवं सम्भोगों में विभक्त होने से सम्बन्धित हैं। आवश्यकनिर्युक्ति सात निह्नवों का उल्लेख करती है, इनमें से जामालि और तिष्यगुप्त तो महावीर के समय में हुए थे, शेष पाँच आषाढ़भूति, अश्वामित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्टमहिल महावीर निर्वाण के पश्चात् २१४ वर्ष से ५८४ वर्ष के बीच हुए। ये निह्नव किन्हीं दार्शनिक प्रश्नों पर निर्ग्रन्थ संघ की परम्परागत मान्यताओं से मतभेद रखते थे। किन्तु इनके द्वारा निर्ग्रन्थ संघ में किसी नवीन सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई हो, ऐसी कोई भी सूचना उपलब्ध नहीं होती। इस काल में निर्ग्रन्थ संघ में गण और शाखा भेद भी हुए किन्तु वे किन दार्शनिक एवं आचार सम्बन्धी मतभेद को लेकर हुए थे, यह ज्ञात नहीं होता है। मेरी दृष्टि में व्यवस्थागत सुविधाओं एवं शिष्य-प्रशिष्यों की परम्पराओं को लेकर ही ये गण या शाखा भेद हुए होंगे। यद्यपि कल्पसूत्र स्थविरावलि में षडुलक रोहगुप्त से त्रैराशिक शाखा निकलने का उल्लेख हुआ है। रोहगुप्त त्रैराशिक मत के प्रवक्ता एक निह्नव माने गये हैं। अत: यह स्पष्ट है कि इन गणों एवं शाखाओं में कुछ मान्यता भेद भी रहे होंगे किन्तु आज हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है।

कल्पसूत्र की स्थविरावलि तुंगीयायन गोत्री आर्य यशोभद्र के

दो शिष्यों माढरगोत्री सम्भूतिविजय और प्राचीनगोत्री भद्रबाहु का उल्लेख करती है। कल्पसूत्र में गणों और शाखाओं की उत्पत्ति बताई गई है, वे एक ओर आर्य भद्रबाहु के शिष्य काश्यप गोत्री गोदास से एवं दूसरी ओर स्थूलिभद्र के शिष्य-प्रशिष्यों से प्रारम्भ होती है। गोदास से गोदासगण की उत्पत्ति हुई और उसकी चार शाखाएं ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पौण्ड्रवर्द्धनिका और दासीकर्पाटिका निकली हैं। इसके पश्चात् भद्रबाहु की परम्परा कैसे आगे बढ़ी, इस सम्बन्ध में कल्पसूत्र की स्थविरावलि में कोई निर्देश नहीं है। इन शाखाओं के नामों से भी ऐसा लगता है कि भद्रबाहु की शिष्य परम्परा बंगाल और उड़ीसा से दक्षिण की ओर चली गई होगी। दक्षिण में गोदास गण का एक अभिलेख भी मिला है। अत: यह मान्यता समुचित ही है कि भद्रबाहु की परम्परा से ही आगे चलकर दक्षिण की अचेलक निर्ग्रन्थ परम्परा का विकास हुआ।

श्वेताम्बर परम्परा पाटलिपुत्र की वाचना के समय भद्रबाहु के नेपाल में होने का उल्लेख करती है जबकि दिगम्बर परम्परा चन्द्रगुप्त मौर्य को दीक्षित करके उनके दक्षिण जाने का उल्लेख करती है। सम्भव है कि वे अपने जीवन के अन्तिम चरण में उत्तर से दक्षिण चले गये हों। उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ की परम्परा सम्भूतिविजय के प्रशिष्य एवं स्थूलिभद्र के शिष्यों से आगे बढ़ी। कल्पसूत्र में वर्णित गोदास गण और उसकी उपर्युक्त चार शाखाओं को छोड़कर शेष सभी गणों, कुलों और शाखाओं का सम्बन्ध स्थूलिभद्र की शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से ही है। इसी प्रकार दक्षिण का अचेल निर्ग्रन्थ संघ भद्रबाहु की परम्परा से और उत्तर का सचेल निर्ग्रन्थ संघ स्थूलिभद्र की परम्परा से विकसित हुआ। इस संघ में उत्तर बलिस्सहगण, उद्धेहगण, कोटिकगण, चारणगण, मानवगण, वेसवाडिवगण, उड्डुवाडियगण आदि प्रमुख गण थे। इन गणों की अनेक शाखाएं एवं कुल थे। कल्पूसत्र की स्थविरावलि इन सबका उल्लेख तो करती है किन्तु इसके अंतिम भाग में मात्र कोटिकगण की वज्री शाखा की आचार्य परम्परा दी गई है जो देवर्द्धिक्षमाश्रमण (वीर निर्माण सं०९८०) तक जाती है। स्थूलभद्र के शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा में उद्भूत जिन विभिन्न गणों, शाखाओं एवं कुलों की सूचना हमें कल्पसूत्र की स्थविरावलि से मिलती है उसकी पुष्टि मथुरा के अभिलेखों से हो जाती है जो कल्पसूत्र की स्थविरावलि की प्रामाणिकता को सिद्ध करते हैं। दिगम्बर परम्परा में महावीर के निर्वाण से लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् तक की जो पट्टावली उपलब्ध है, एक तो वह पर्याप्त परवर्ती है दूसरे भद्रबाहु के नाम के अतिरिक्त उसकी पुष्टि का प्राचीन साहित्यिक और अभिलेखीय कोई साक्ष्य नहीं है। भद्रबाहु के सम्बन्ध में भी जो साक्ष्य हैं, वह पर्याप्त परवर्ती हैं। अत: ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न लगाये जा सकते हैं। महावीर के निर्वाण से ईसा की प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी तक के जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में हुए, उन्हें समझने के लिए अर्द्धमागधी आगमों के अतिरिक्त मथुरा का शिल्प एवं अभिलेख हमारी बहुत अधिक मदद करते हैं। मथुरा शिल्प की विशेषता यह है कि तीर्थंकर प्रतिमाएँ नग्न हैं, मुनि नग्न होकर भी वस्त्र खण्ड से अपनी नग्नता छिपाये हुए हैं। वस्त्र के अतिरिक्त पात्र, झोली, मुखवस्त्रिका और प्रतिलेखन भी मुनि के उपकरणों में समाहित हैं। मुनियों के नाम, गण, शाखा, कुल आदि श्वेताम्बर परम्परा के कल्पसूत्र की स्थविरावलि से मिलते हैं। इस प्रकार ये श्वेताम्बर परम्परा की पूर्व स्थिति के सूचक हैं। जैन धर्म में तीर्थंकर प्रतिमाओं के अतिरिक्त स्तूप के निर्माण की परम्परा भी थी, यह भी मथुरा के शिल्प से सिद्ध हो जाता है।

यापनीय या बोटिक संघ का उद्भव

ईसा की द्वितीय शती में महावीर के निर्वाण के छ: सौ नौ वर्ष पश्चात् उत्तर भारत निर्ग्रन्थ संघ में विभाजन की एक अन्य घटना घटित हुई, फलत: उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ सचेल एवं अचेल ऐसे दो भागों में बंट गया। पार्श्वापत्यों के प्रभाव से आपवादिक रूप में एवं शीतादि के निवारणार्थ गृहीत हुए वस्त्र, पात्र आदि जब मुनि की अपरिहार्य उपधि बनने लगे, तो परिग्रह की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के प्रश्न पर आर्य कृष्ण और आर्य शिवभूति में मतभेद हो गया। आर्य कृष्ण जिनकल्प का उच्छेद बताकर गृहीत वस्त्र-पात्र को मुनिचर्या का अपरिहार्य अंग मानने लगे, जबकि आर्य शिवभूति ने इनके त्याग और जिनकल्प के आचरण पर बल दिया। उनका कहना था कि समर्थ के जिनकल्प का निषेध नहीं मानना चाहिए। वस्त्र, पात्र का ग्रहण अपवाद मार्ग है, उत्सर्ग मार्ग तो अचेलता ही है। आर्य शिवभूति की उत्तर भारत की इस अचेल परम्परा को श्वेताम्बरों ने बोटिक (भ्रष्ट) कहा। किंतु आगे चलकर यह परम्परा यापनीय के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हुई। गोपाञ्चल में विकसित होने के कारण यह गोप्य संघ नाम से भी जानी जाती थी। षट्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्न ने गोप्य संघ या यापनीय संघ को पर्यायवाची बताया है। यापनीय संघ की विशेषता यह थी कि एक ओर यह श्वेताम्बर परम्परा के समान आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि अर्द्धमागधी आगम साहित्य को मान्य करता था जो कि उसे उत्तराधिकार में ही प्राप्त हुआ था, साथ ही वह सचेल, स्त्री और अन्यतैर्थिकों की मुक्ति को स्वीकार करता था। आगम साहित्य के वस्त्र-पात्र सम्बन्धी उल्लेखों को वह साध्वियों एवं आपवादिक स्थिति में मुनियों से सम्बन्धित मानता था किन्तु दूसरी ओर वह दिगम्बर परम्परा के समान वस्त्र और पात्र का निषेध कर मुनि की नग्नता पर बल देता था। यापनीय मुनि नग्न रहते थे और पानीतलभोजी (हाथ में भोजन करने वाले) होते थे। इसके आचार्यों ने उत्तराधिकार में प्राप्त आगमों से गाथायें लेकर शौरसेनी प्राकृत में अनेक ग्रन्थ बनाये। इनमें कषायप्राभृत, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार आदि प्रसिद्ध हैं।

दक्षिण भारत में अचेल निर्ग्रन्थ परम्परा का इतिहास ईस्वी सन् की तीसरी चौथी-शती तक अंधकार में ही है। इस सम्बन्ध में हमें न तो विशेष साहित्यिक साक्ष्य ही मिलते हैं और न अभिलेखीय ही। यद्यपि इस काल के कुछ पूर्व के ब्राह्मी लिपि के अनेक गुफा अभिलेख तमिलनाडु में पाये जाते हैं किन्तु वे श्रमणों या निर्माता के नाम के अतिरिक्त कोई जानकारी नहीं देते। तमिलनाडु में अभिलेख युक्त जो गुफायें हैं, वे सम्भवत: निर्ग्रन्थ के समाधि मरण ग्रहण करने के स्थल रहे होंगे। संगम

युग के तमिल साहित्य से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि जैन श्रमणों ने भी तमिल भाषा के विकास और समृद्धि में अपना योगदान दिया था। तिरूकुरल के जैनाचार्यकृत होने की भी एक मान्यता है। ईसा की चौथी शताब्दी में तमिल देश का यह निर्ग्रन्थ संघ कर्णाटक के रास्ते उत्तर की ओर बढ़ा, उधर उत्तर का निर्ग्रन्थ संघ सचेल (श्वेताम्बर) और अचेलक (यापनीय) इन दो भागों में विभक्त होकर दक्षिण में गया। सचेल श्वेताम्बर परम्परा राजस्थान, गुजरात एवं पश्चिमी महाराष्ट्र होती हुई उत्तर कर्नाटक पहुँची, तो अचेल यापनीय परम्परा बुन्देलखण्ड एवं विदिशा होकर विंध्य और सतपुड़ा को पार करती हुई पूर्वी महाराष्ट्र से होकर उत्तरी कर्नाटक पहुँची। ईसा की पाँचवी शती में उत्तरी कनार्टक मे मृगेशवर्मा के जो अभिलेख मिले हैं उनसे उस काल में जैनों के पाँच संघों के अस्तित्व की सूचना मिलती है-(१) निर्ग्रन्थ संघ, (२) मूल संघ, (३) यापनीय संघ, (४) कूर्चक संघ और (५) श्वेतपट महाश्रमण संघ। इसी काल में पूर्वोत्तर भारत में वटगोहली से प्राप्त ताम्रपत्र में पंचस्तूपान्वय के अस्तित्व की भी सूचना मिलती है। इस युग का श्वेतपट महाश्रमण संघ अनेक कुलों एवं शाखाओं में विभक्त था जिसका सम्पूर्ण विवरण कल्पसूत्र एवं मथुरा के अभिलेखों से प्राप्त होता है।

निर्ग्रन्थ परम्परा का साहित्य

महावीर के निर्वाण के पश्चात् से लेकर ईसा की पाँचवी शती तक एक हजार वर्ष की इस सुदीर्घ अवधि में अर्द्धमागधी आगम साहित्य का निर्माण एवं संकलन होता रहा है। अत: आज हमें जो आगम उपलब्ध हैं, वे न तो एक व्यक्ति की रचना हैं और न एक काल की। मात्र इतना ही नहीं, एक ही आगम में विविध कालों की सामग्री संकलित है। इस अवधि में सर्वप्रथम ई०पू० तीसरी शती में पाटलिपुत्र में प्रथम वाचना हुई, सम्भवत: इस वाचना में अंगसूत्रों एवं पार्श्वापत्य परम्परा के पूर्व साहित्य के ग्रन्थों का संकलन हुआ। पूर्व साहित्य के संकलन का प्रश्न इसलिये महत्त्वपूर्ण बन गया था कि पार्श्वापत्य परम्परा लुप्त होने लगी थी। इसके पश्चात् आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में और आर्य नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी में समानान्तर वाचनाएँ हुईं, जिनमें अंग, उपांग आदि आगम संकलित हुए। इसके पश्चात् वीर निर्वाण ९८० अर्थात् ई०सन् की पाँचवी शती में वल्लभी में देवर्द्धिक्षमाश्रमण के नेतृत्व में अन्तिम वाचना हुई। वर्तमान आगम इसी वाचना का परिणाम है। फिर भी देवर्द्धि इन आगमों के सम्पादक ही हैं, रचनाकार नहीं। उन्होंने मात्र ग्रन्थों को सुव्यवस्थित किया। इन ग्रन्थों की सामग्री तो उनके पहले की है। अर्धमागधी आगमों में जहाँ आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि प्राचीन स्तर के अर्थात् ई०पू० के ग्रन्थ हैं, वहीं समवायांग, वर्तमान प्रश्नव्याकरण आदि पर्याप्त परवर्ती अर्थात् लगभग ई०स० की पांचवीं शती के हैं। स्थानांग, अंतकृतदशा, ज्ञाता और भगवती का कुछ अंश प्राचीन (अर्थात् ई०पू० का) है, तो कुछ पर्याप्त परवर्ती है। उपांग साहित्य में अपेक्षाकृत रूप में सूर्य प्रज्ञप्ति, राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना प्राचीन हैं। उपांगों की अपेक्षा भी छेद सूत्रों की प्राचीनता निर्विवाद है। इसी प्रकार प्रकीर्णक साहित्य में अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जो कुछ अंगों और उपांगों की अपेक्षा भी प्राचीन है। फिर भी सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य को अन्तिम रूप लगभग ई० सन् की छठी शती के पूर्वार्ध में मिला यद्यपि इसके बाद भी इसमें कुछ प्रक्षेप और परिवर्तन हुए हैं। ईसा की छठी शताब्दी के पश्चात् से दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक मुख्य आगमिक व्याख्या साहित्य के रूप में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीकाएँ लिखी गईं। यद्यपि कुछ निर्युक्तियाँ प्राचीन भी हैं। इस काल में इन आगमिक व्याख्याओं के अतिरिक्त स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे गये। इस काल के प्रसिद्ध आचार्यों में सिद्धसेन, जिनभद्रगणि, शिवार्य, बट्टकेर, कुन्दकुन्द, अकलंक, समन्तभद्र, विद्यानन्द, जिनसेन, स्वयम्भू, हरिभद्र, सिद्धर्षि, शीलांक, अभयदेव आदि प्रमुख हैं। दिगम्बरों में तत्त्वार्थ की विविध टीकाओं और पुराणों का रचना काल भी यही युग है।

चैत्यवास और भट्टारक परम्परा का उदय

दिगम्बर परम्परा में भट्टारक सम्प्रदाय और श्वेताम्बर परम्परा में चैत्यवास का विकास भी इसी युग अर्थात् ईसा की पांचवीं शती से होता है, यद्यपि जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमा के निर्माण के पुरातात्त्विक प्रमाण मौर्यकाल से तो स्पष्ट रूप से मिलने लगते हैं। शक और कुषाण युग में इसमें पर्याप्त विकास हुआ, फिर भी ईसा की ५वीं शती से १२वीं शती के बीच जैन शिल्प अपने सर्वोत्तम रूप को प्राप्त होता है। यह वस्तुत: चैत्यवास की देन है। दोनों परम्पराओं में इस युग में मुनि बनवास को छोड़कर चैत्यों, जिन मन्दिरों में रहने लगे थे। केवल इतना ही नहीं, वे इन चैत्यों की व्यवस्था भी करने लगे थे। अभिलेख से तो यहां तक सूचना मिलती है कि न केवल चैत्यों की व्यवस्था के लिए, अपितु मुनियों के आहार और तेलमर्दन आदि के लिये भी संभ्रान्त वर्ग से दान प्राप्त किये जाते थे। इस प्रकार इस काल में जैन साधु मठाधीश बन गया था। फिर भी इस सुविधाभोगी वर्ग के द्वारा जैन-दर्शन, साहित्य एवं शिल्प का जो विकास इस युग में हुआ उसकी सर्वोत्कृष्टता से इन्कार नहीं किया जा सकत। यद्यपि इस चैत्यवास में सुविधावाद के नाम पर जो शिथिलाचार विकसित हो रहा था उसका विरोध श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में हुआ। श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्र ने इसके विरोध में लेखनी चलाई। 'सम्बोध प्रकारण' में उन्होंने इन चैत्यवासियों के आगम विरुद्ध आचार की खुलकर अलोचना की, यहाँ तक कि उन्हें नर-पिशाच तक कह दिया। चैत्यवास की इसी प्रकार की आलोचना आगे चलकर जिनेश्वरसूरि, जिनचन्द्रसूरि आदि खरतरगच्छ के अन्य आचार्यों ने भी की। ईस्वी सन् की दशवीं शताब्दी में खरतरगच्छ का आविर्भाव भी चैत्यवास के विरोध में हुआ था जिसका प्रारम्भिक नाम सुविहित मार्ग या संविग्न पक्ष था। दिगम्बर परम्परा में इस युग में द्रविड़ संघ, माथुर संघ, काष्टा संघ आदि का उद्भव भी इसी काल में हुआ, जिन्हें दर्शन-सार नामक ग्रन्थ में जैनाभास कहा गया।

इस संबंध में पं० नाथूरामजी 'प्रेमी' ने अपने 'ग्रंथ' जैन साहित्य

और इतिहास' में चैत्यवास और बनवास के शीर्षक के अन्तर्गत विस्तृत चर्चा की है। फिर भी उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह कहना कठिन है कि इन विरोधों के बावजूद जैन संघ इस बढ़ते हुए शिथिलाचार से मुक्ति पा सका।

तन्त्र और भक्ति मार्ग का जैन धर्म पर प्रभाव

वस्तुत: गुप्तकाल से लेकर दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी तक का युग पूरे भारतीय समाज के लिए चरित्रबल के ह्रास और ललित कलाओं के विकास का युग है। यही काल है जब खजुराहो और कोणार्क के मंदिरों में कामुक अंकन किये गये। जिन मंदिर भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। यही वह युग है जब कृष्ण के साथ राधा और गोपियों की कथा को गढ़कर धर्म के नाम पर कामुकता का प्रदर्शन किया गया। इसी काल में तन्त्र और वाम मार्ग का प्रचार हुआ, जिसकी अग्नि में बौद्ध भिक्षु संघ तो पूरी तरह जल मरा किन्तु जैन भिक्षु संघ भी उसकी लपटों की झुलस से बच न सका। अध्यात्मवादी जैन धर्म पर भी तन्त्र का प्रभाव आया। हिन्दू परम्परा के अनेक देवी-देवताओं को प्रकारांतर से यक्ष, यक्षी अथवा शासन देवियों के रूप में जैन देवमंडल का सदस्य स्वीकार कर लिया गया। उनकी कृपा या उनसे लौकिक सुख-समृद्धि प्राप्त करने के लिये अनेक तान्त्रिक विधि-विधान बने। जैन तीर्थंकर तो वीतराग था अत: वह न तो भक्तों का कल्याण कर सकता था न दुष्टों का विनाश, फलत: जैनों ने यक्ष-यक्षियों या शासन-देवता को भक्तों के कल्याण की जवाबदारी देकर अपने को युग-विद्या के साथ समायोजित कर लिया। इसी प्रकार भक्ति मार्ग का प्रभाव भी इस युग में जैन संघ पर पड़ा। तन्त्र मार्ग के संयुक्त प्रभाव से जिन मंदिरों में पूजा-यज्ञ आदि के रूप में विविध प्रकार के कर्मकाण्ड अस्तित्व में आये। वीतराग जिन प्रतिमा की हिन्दू परम्परा की षोडशोपचार पूजा की तरह सत्रहभेदी पूजा की जाने लगी। न केवल वीतराग जिनप्रतिमा को वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित किया गया, अपितु उसे फल-नेवैद्य आदि भी अर्पित किये जाने लगे। यह विडम्बना ही थी कि हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा पद्धति के विवेकशून्य अनुकरण के द्वारा तीर्थंकर या सिद्ध परमात्मा का भी आह्वान और विसर्जन किया जाने लगा। यद्यपि यह प्रभाव श्वेताम्बर परम्परा में अधिक आया था किन्तु दिगम्बर परम्परा भी इस से बच न सकी।

विविध प्रकार के कर्मकाण्ड और मंत्र-तंत्र का प्रवेश उनमें भी हो गया था। श्रमण परम्परा की वर्ण-मुक्त सर्वोदयी धर्म व्यवस्था का परित्याग करके उसमें शूद्र की मुक्ति के निषेध और शूद्र जल त्याग पर बल दिया गया।

यद्यपि बारहवीं एवं तेरहवीं शती में हेमचन्द्र आदि अनेक समर्थ जैन दार्शनिक और साहित्यकार हुए, फिर भी जैन परम्परा में सहगामी अन्य धर्म परम्पराओं से जो प्रभाव आ गये थे, उनसे उसे मुक्त करने का कोई सशक्त और सार्थक प्रयास हुआ हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। यद्यपि सुधार के कुछ प्रयत्नों एवं मतभेदों के आधार पर श्वेताम्बर परम्परा तपागच्छ, अंचलगच्छ आदि अस्तित्व में आये और उनकी शाखा-प्रशाखाएं भी बनीं, फिर भी लगभग १५वीं शती तक जैन संघ इसी स्थिति का शिकार रहा।

मध्ययुग में कला एवं साहित्य के क्षेत्र मे जैनों का महत्त्वपूर्ण अवदान

यद्यपि मध्यकाल जैनाचार की दृष्टि से शिथिलाचार एवं सुविधावाद का युग था फिर भी कला और साहित्य के क्षेत्र में जैनों ने महनीय अवदान प्रदान किया। खजुराहो, श्रवणबेलगोल, आबू (देलवाड़ा), तारंगा, रणकपुर, देवगढ़ आदि का भव्य शिल्प और स्थापत्य कला जो ९वीं शती से १४वीं शती के बीच में निर्मित हुई, आज भी जैन समाज का मस्तक गौरव से ऊँचा कर देती है। अनेक प्रौढ़ दार्शनिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों की रचनाएं भी इन्हीं शताब्दियों में हुई। श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र, अभयदेव, वादिदेवसूरी, हेमचन्द्र, मणिभद्र, मल्लिसेन, जिनप्रभ आदि आचार्य एवं दिगम्बर परम्परा में विद्यानन्दी, शाकटायन, प्रभाचन्द्र जैसे समर्थ विचारक भी इसी काल के हैं। मंत्र-तंत्र के साथ चिकित्सा के क्षेत्र में भी जैन आचार्य आगे आये। इस युग के भट्टारकों और जैन यतियों नें साहित्य एवं कलात्मक मंदिरों का निर्माण तो किया ही साथ ही चिकित्सा के माध्यम से जनसेवा के क्षेत्र में भी वे पीछे नहीं रहे।

सुधारवादी आंदोलन एवं अमूर्तिक सम्प्रदायों का आविर्भाव

जैन परम्परा में एक परिवर्तन की लहर पुन: सोलहवीं शताब्दी में आयी। जब अध्यात्म प्रधान जैनधर्म का शुद्ध कर्म-काण्ड के घोर आडम्बर के आवरण में धूमिल हो रहा था और मुस्लिम शासकों के मूर्तिभंजक स्वरूप से मूर्ति पूजा के प्रति आस्थाएं विचलित हो रही थीं, तभी मुसलमानों की आडम्बर रहित सहज धर्म साधना ने हिन्दुओं की भांति जैनों को भी प्रभावित किया। हिन्दू धर्म में अनेक निर्गुण भक्तिमार्गी सन्तों के आविर्भाव के समान ही जैन धर्म में भी ऐसे सन्तों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने धर्म के नाम पर कर्मकाण्ड और आडम्बर युक्त पूजा-पद्धति का विरोध किया। फलत: जैनधर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही शाखाओं में सुधारवादी आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें श्वेताम्बर परम्परा में लोंकाशाह और दिगम्बर परम्परा में सन्त तरणतारण तथा बनारसीदास प्रमुख थे। यद्यपि बनारसीदास जन्मना श्वेताम्बर परम्परा के थे किन्तु उनका सुधारवादी आंदोलन दिगम्बर परम्परा से सम्बन्धित था। लोंकाशाह ने श्वेताम्बर परम्परा में मूर्तिपूजा तथा धार्मिक कर्मकाण्ड और आडम्बरों का विरोध किया। इनकी परम्परा आगे चलकर लोंकागच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी से आगे चलकर सत्रहवीं शताब्दी में श्वेताम्बर में स्थानकवासी परम्परा विकसित हुई। जिसका पुन: एक विभाजन १८वीं शती में शुद्ध निवृत्तिमार्गी जीवन दृष्टि एवं अहिंसा की निषेधात्मक व्याख्या के आधार पर श्वेताम्बर तेरापंथ के रूप में हुआ।

दिगम्बर परम्पराओं में बनारसीदास ने भट्टारक परम्परा के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की और सचित्त द्रव्यों से जिन-प्रतिमा के पूजन का निषेध किया किन्तु तारणस्वामी तो बनारसीदास से भी एक

कदम आगे थे। उन्होंने दिगम्बर परम्परा में मूर्ति-पूजा का ही निषेध कर दिया। मात्र यही नहीं, इन्होंने धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप की पुन: प्रतिष्ठा की। बनारसीदास की परम्परा जहाँ दिगम्बर तेरापंथ के नाम से विकसित हुई तो तारण स्वामी का वह आन्दोलन तारणपंथ या समैया के नाम से पहचाना जाने लगा। तारणपंथ के चैत्यालयों में मूर्ति के स्थान पर शास्त्र की प्रतिष्ठा की गई। इस प्रकार सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दी में जैन परम्परा में इस्लाम धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप एक नया परिवर्तन आया और अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। फिर भी पुरानी परम्पराएं यथावत चलती रहीं। पुन: बीसवीं शती में गांधी जी के गुरुतुल्य श्रीमद्राजचन्द्र के कारण अध्यात्म प्रेमियों का एक नया संघ बना। यद्यपि सदस्य संख्या की दृष्टि से चाहे यह संघ प्रभावशाली न हो किन्तु उनकी अध्यात्मनिष्ठा आज इसकी एक अलग पहचान बनाती है। इसी प्रकार श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा में दीक्षित कानजी स्वामी ने महान् अध्यात्मवादी दिगम्बर संत कुन्दकुन्द के 'समयसार' जैसे अध्यात्म और 'निश्चयनय' प्रधान ग्रन्थ के अध्ययन से दिगम्बर पराम्परा में इस शताब्दी में एक नये आंदोलन को जन्म दिया।

विदेशयात्रा और वाहन-प्रयोग की नवीन परम्परा

आज पुन: जैनधर्म के आचार-विचार को लेकर परिवर्तन की बात कही जाती हैं। परम्परागत आचार व्यवस्था को नकार कर श्वेताम्बर जैनमुनियों एवं दिगम्बर भट्टारकों का एक वर्ग वाहन प्रयोग और विदेश यात्रा को आज आवश्यक मानने लगा है। यह सत्य है कि युगीन परस्थितियों के बदलने पर किसी भी जीवित धर्म के लिए यह आवश्यक होता है कि वह युगानुरूप अपनी जीवन-शैली में परिवर्तन करे। आज विज्ञान और तकनीकी का युग है। प्रगति के कारण आज देशों के बीच दूरियाँ सिमट गयीं। आज जैन परिवार भी विश्व के प्रत्येक कोने में पहुँच चुके हैं। अत: उनके संस्कारों को जीवित रखने और विश्व में जैनधर्म की अस्मिता को स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि जैन श्रमण वर्ग विश्व के देशों की यात्रा कर जैनधर्म का प्रसार करे, किन्तु इस हेतु आचार-नियमों में कुछ परिवर्तन तो लाना ही होगा। धर्म प्रसार के लिए जैन श्रमण देश-विदेश की यात्राएँ प्राचीनकाल से ही करते रहे। महावीर के युग में जैन मुनियों ने यात्रा में बाधक नदियों को नावों से पार करके अपनी यात्राएँ की थीं। मात्र नदियों को पार करके ही नहीं, महासागर को जहाजों से पार करके भी जैन मुनियों ने लंका और सुवर्णद्वीप तक की यात्राएँ की थीं, ऐसे ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध हैं। अत: आज यदि विदेशों में जैनधर्म के प्रसार के लिए कोई जैन मुनि वायुयान से यात्रा कर लेता है तो वह कोई बहुत बड़ा अपराध करता है, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु जहां पाद विहार की सुविधाएँ उपलब्ध हैं, वहाँ भी वाहन प्रयोग तो उचित नहीं माना जा सकता। पुन: हमें यह भी विचार करना होगा कि वह विदेश यात्रा जैनधर्म की गरिमा को स्थापित करती है या उसे खण्डित करती है। विदेशों में जैन मुनि जैनधर्म का गौरव तभी स्थापित कर सकता है जब उसकी अपनी जीवनचर्या कठोर एवं संयमपरक हो। हमें इस तथ्य को स्मरण रखना है कि जैन श्रमणों की सुविधावादी प्रवृत्ति जैनधर्म के लिए भी उतनी खतरनाक सिद्ध होगी, जैसी कभी बौद्ध धर्म के लिए हुई थी कि वह अपनी मातृभूमि में ही अपना अस्तित्व खो बैठा था। विदेश यात्रा कोई बड़ा अपराध नहीं है। अपराध है जैन श्रमणों की बढ़ती हुई सुविधावादी प्रवृत्ति एवं बिना सामुदायिक निर्णय के पूर्व प्रचलित आचार व्यवस्था का उल्लंघन। आज का जैन श्रमण इतना सुविधावादी और भोगवादी होता जा रहा है कि एक सामान्य जैन गृहस्थ की अपेक्षा भी उसका खान-पान और सम्पूर्ण जीवन शैली अधिक सुविधासम्पन्न हो गयी है। एक श्रमण के लिए वर्ष में होने वाला खर्च सामान्य गृहस्थ से कई गुना अधिक होता है।

आज के जैन श्रमण की जीवन शैली इतनी सुविधाभोगी हो गई है कि वह जन-सामान्य की उपेक्षा सम्पन्न श्रेष्ठिवर्ग के आसपास केन्द्रित हो रहा है और उसकी जीवन शैली उसे और अधिक सुविधाभोगी बना रही है- यदि वाहन प्रयोग सामान्य हो गया तो जैन श्रमण जन-साधारण और ग्रामीण जैन परिवार से बिल्कुल कट जायेगा। वाहन सुविधा और विदेश यात्रा को युग की आवश्यकता मानकर भी उस सम्बन्ध में कुछ मर्यादाएँ निश्चित करनी होंगी।

१. चरित्रवान् और विद्वान् श्रमण या श्रमणी ही आचार्य और संघ की अनुमति से विदेश भेजे जायें। यह निर्णय पूर्णत: आचार्य और संघ की सर्वोच्च समिति के अधीन हो कि किस श्रमण या श्रमणी को विदेश भेजा जाये।

२. जिस श्रमण या श्रमणी को विदेश यात्रा के लिए भेजा जाये उसे उस देश की भाषा और जैनशास्त्र तथा दर्शन का समुचित ज्ञान हो और उनके ज्ञान का प्रमाणीकरण और उनकी जैनधर्म के प्रति निष्ठा का सम्यक् मूल्यांकन हो।

३. विदेश यात्रा धर्म संस्कार जागृत करने के लिए हो न कि घूमने-फिरने के लिए। अत: प्रथमत: उन्हीं क्षेत्रों में यात्रा की अनुमति हो जहाँ जैन परिवारों का निवास हो और उस क्षेत्र में वे अपने परम्परागत नियमों का वाहन प्रयोग आदि के अपवाद को छोड़कर उसी प्रकार पालन कर सकें।

४. अपरिपक्व वय और अपरिपक्व विचारों के श्रमण-श्रमणियों को किसी भी परिस्थिति में विदेश यात्रा की अनुमति न दी जाये।

५. जिस प्रकार प्राचीनकाल में बड़ी नदियों को नौका से पार करने की वर्ष में संख्या निर्धारित होती थी, उसी प्रकार वर्ष में एक या दो से अधिक यात्राओं की अनमुति न हो। जिस क्षेत्र में वे जायें, वहाँ रुककर संस्कार जागरण का कार्य करें, न कि भ्रमण-सुख के लिए यात्राएँ करते रहें।

६. वाहन यात्रा को अपवाद् मार्ग ही माना जाये और उसके लिए समुचित प्रायश्चित्त की व्यवस्था हो।

७. देश में भी आपवादिक परस्थितियों में अथवा किसी सुदूर प्रदेश की यात्रा ज्ञान-साधना अथवा धर्म के प्रसार के लिए आवश्यक होने पर ही वाहन द्वारा यात्रा की अनुमति दी जाये। बिना अनमुति के वाहन

प्रयोग सर्वथा निषिद्ध ही माना जाये।

इस प्रकार विशिष्ट नियंत्रणों के साथ ही वाहन प्रयोग और विदेश यात्रा की अनुमति अपवाद् मार्ग के रूप में मानी जा सकती है। उसे सामान्य नियम कभी भी नहीं बनाया जा सकता क्योंकि भूतकाल में भी वह एक अपवाद मार्ग ही था। इस प्रकार आचार मार्ग में युगानुरूप परिवर्तन तो किये जो सकते हैं परन्तु उनकी अपनी उपयोगिता होनी चाहिए और उनसे जैन धर्म के शाश्वत मूल्यों पर कोई आंच नहीं आनी चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में देश और काल के प्रभाव से समय-समय पर अनेक परिवर्तन होते रहे हैं और इन्हीं परिवर्तनों के फलस्वरूप ही जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदाय अस्तित्व में आये हैं। यदि हम उनके इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को तटस्थ दृष्टि से समझने का प्रयत्न करेगें तो विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति गलतफहमियाँ दूर होंगी और जैन धर्म के मूलधारा में रहे हुए एकत्व का दर्शन कर सकेगें। साम्प्रदायिक सद्भाव और एक दूसरे को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए इस ऐतिहासिक दृष्टिकोण की आज महती आवश्यकता है। आज हम इसे अपनाकर अनेक पारस्परिक विवादों का सहज समाधान पा सकेगें।

जैन इतिहास : अध्ययन विधि एवं मूलस्रोत

समग्र एवं संश्लेषणात्मक अध्ययन की आवश्यकता

भारतीय संस्कृति के सम्यक् ऐतिहासिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उसकी प्रकृति को पूरी तरह से समझ लिया जाये। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय संस्कृति एक संश्लिष्ट संस्कृति है। वस्तुत: कोई भी विकसित संस्कृति संश्लिष्ट संस्कृति ही होती है क्योंकि उसके विकास में अनेक संस्कृतियों का अवदान होता है। भारतीय संस्कृति को हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि चारदीवारी में अवरुद्ध करके कभी भी सम्यक् रूप से नही समझा जा सकता है। जिस प्रकार शरीर को खण्ड-खण्ड कर देखने से शरीर की क्रिया- शक्ति को नहीं समझा जा सकता है, ठीक उसी प्रकार भारतीय संस्कृति को खण्डों में विभाजित करके देखने से उसकी आत्मा ही मर जाती है। अध्ययन की दो दृष्टियाँ होती हैं- विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक। विश्लेषणात्मक पद्धति तथ्यों को खण्डों में विभाजित करके देखती है, तो संश्लेषणात्मक विधि उसे समग्र रुप से देखती है। भारतीय संस्कृति के इतिहास को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसके विभिन्न घटकों अर्थात् हिन्दू, बौद्ध और जैन परम्पराओं का समन्वित या समग्र रूप में अध्ययन किया जाये। जिस प्रकार एक इंजन की प्रक्रिया को समझने के लिए न केवल उसके विभिन्न घटकों अर्थात् कल-पुर्जो का ज्ञान आवश्यक है, अपितु उनके परस्पर संयोजित स्वरूप को तथा एक अंग की क्रिया के दूसरे अंग पर होने वाले प्रभाव को भी समझना होता है। सत्य तो यह है कि भारतीय इतिहास के शोध के सन्दर्भ में अन्य सहवर्ती परम्पराओं के अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति का समग्र इतिहास प्रस्तुत ही नहीं किया जा सकता।

कोई भी धर्म और संस्कृति शून्य में विकसित नही होती हैं, वे अपने देश-काल तथा अपनी सहवर्ती अन्य परम्पराओं से प्रभावित होकर ही अपना स्वरूप ग्रहण करती हैं। यदि हमें जैन, बौद्ध या हिन्दू किसी भी भारतीय सांस्कृतिक धारा के इतिहास का अध्ययन करना है तो उनके देशकाल और परिवेश को तथा उनकी सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव को सम्यक् प्रकार से समझना होगा। भारत के सांस्कृतिक इतिहास को समझने और उसके प्रामाणिक लेखन के लिए एक समग्र किन्तु देशकाल सापेक्ष दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक है।

ऐतिहासिक अध्ययन के लिए जहाँ एक ओर विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर एक समग्र दृष्टिकोण (Holistice-Approach) भी आवश्यक है। भारतीय ऐतिहासिक अध्ययन का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसे विभिन्न धर्मों और परम्पराओं का एक घेरे में आबद्ध करके अथवा उसके विभिन्न पक्षों को खण्ड-खण्ड करके देखने का प्रयत्न हुआ है। अपनी आलोचक और विश्लेषणात्मक दृष्टि के कारण हमने एक दूसरे की कमियों को ही अधिक देखा है। मात्र यही नहीं, एक परम्परा में दूसरी परम्परा के इतिहास को और उसके जीवन मूल्यों को भ्रान्त रूप से प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के लेखन में पहली भूल तब हुई जब दूसरी परम्पराओं को अपनी परम्परा से निम्न दिखाने के लिए उन्हें गलत ढंग से प्रस्तुत किया गया। प्रत्येक परम्परा की अगली पीढ़ियाँ दूसरी परम्परा के उस गलत प्रस्तुतीकरण को ही आगे बढ़ाती रहीं। दूसरे शब्दों में कहें तो भारतीय संस्कृति और विशेष रूप से भारतीय दर्शन में प्रत्येक पक्ष ने दूसरे पक्ष का विकृत चित्रण ही प्रस्तुत किया। मध्यकालीन दार्शनिक ग्रंथों में इस प्रकार का चित्रण हमें प्रचुरता से उपलब्ध होता है।

सौभाग्य या दुर्भाग्य से जब पाश्चात्य इतिहासकार इस देश में आये और यहाँ के इतिहास का अध्ययन किया तो उन्होंने भी अपनी संस्कृति से भारतीय संस्कृति को निम्न सिद्ध करने के लिए विकृत पक्ष को उभार कर इसकी गरिमा को धूमिल ही किया। फिर भी पाश्चात्य लेखकों में कुछ ऐसे अवश्य हुए हैं जिन्होंने इसको समग्र रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया और एक के ऊपर दूसरी परम्परा के प्रभाव को देखने का भी प्रयत्न किया। किन्तु उन्होंने अपने राजनैतिक स्वार्थों के लिए भारतीय संस्कृति की एक धारा को दूसरी धारा के विरोध में खड़ा कर